

अज्ञेय के काव्य में अस्तित्व बोध और सामाजिक चेतना

डॉ० ललिता यादव,

एसोसिएट प्रोफेसर—हिन्दी,
एन. ए. एस. कालेज, मेरठ, उ.प्र.

डॉ० प्रज्ञा पाठक,

एसोसिएट प्रोफेसर—हिन्दी,
एन. ए. एस. कालेज, मेरठ, उ.प्र.

शोध सारांश

बीसवीं शताब्दी की हिन्दी कविता में कवि अज्ञेय की पहचान सर्वाधिक चर्चित, बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न, अभिजात और विवादित लेखक के रूप में थी। उनका काव्य चिंतन इतना मौलिक और नवीन था कि काव्य शास्त्र के पुराने प्रतिमानों को लेकर बहस को बल मिला। वह समाज के मूल्यों के स्थान पर कविता के मूल्यों की चर्चा करते हैं। क्षणवाद, अस्तित्ववाद, व्यक्तिवाद, मनोविश्लेषणवाद जैसे शब्दों की आड़ से उन्हें दूसरे द्वीप का चमकता कवि कहकर टालने के प्रयासों की कलई भी कालांतर में उतरी ही और जन्म शताब्दी दशक 2011 में अज्ञेय धूमधाम से पढ़े, पढ़ाएँ, याद किए गए थे। प्रस्तुत अध्ययन अज्ञेय की कविता में अस्तित्व बोध और सामाजिक चेतना के अंतर्संबंध और अंतर्विरोध को विश्लेषित करने का प्रयास है।

Keywords : अज्ञेय काव्य, अस्तित्व बोध, सामाजिक चेतना, व्यक्ति स्वातंत्र्य।

कवि अज्ञेय की कविता को वस्तुतः व्यक्ति स्वातंत्र्य की खोज में लिखी गई कविता माना जाता है। मानव को पहला स्वाधीन पशु मानने वाले अज्ञेय यह भी कहते हैं— मानव मूल्यों की सृष्टि करता है और स्वाधीनता उसका चरम मूल्य है, जिसे मानव अपने विवेक से अर्जित करता है। स्वाधीनता और स्वविवेक पर अज्ञेय की 'स्वतन्त्र व्यक्ति की अवधारणा' केन्द्रित है और इस बिन्दु के कारण ही अज्ञेय का काफी विरोध हुआ। अज्ञेय के अनुसार—“स्वाधीन होना अपनी चरम संभावनाओं की सम्पूर्ण उपलब्धि के शिखर तक विकसित होना है।”¹ किसी देश के प्रत्येक व्यक्ति का अपनी चरम संभावनाओं की सम्पूर्ण उपलब्धि के शिखर तक विकसित होना, किसी समाज के लिए चरम समृद्धि और गौरवावित होने का क्षण होगा। यह परिकल्पना अज्ञेय की सामाजिक चेतना की उत्कृष्टता नहीं तो और क्या है?

अज्ञेय अपनी कविता 'टेर रहा सागर' में लिखते हैं—

“अर्थ हमारा

जितना, सागर में नहीं

हमारी मछली में है

सभी दिशा में सागर जिसको घेर रहा है।”

अस्तित्व एवं जिजीविषा की प्रतीक 'मछली' अज्ञेय की कविता का प्रिय प्रतीक रही है। मछली जिसे सभी दिशाओं में सागर घेर रहा है, को सागर से कैसे मुक्त किया जा सकता है? यहाँ समस्या सागर नहीं, उसके घेरने के उपक्रम में है। कहना न होगा कि घेरनाबंधन है और इस बंधन से मुक्ति चाहती है मछली, सागर से नहीं।

'हिय हारिल' कविता में भी अस्तित्व के प्रतीक हारिल को दसों दिशाओं से 'शून्य नभ' घेरे हुए है। 'सागर' और 'शून्य नभ' का घेरना व्यक्ति

के व्यक्तित्व को कुंठित करता है। इस बात को और स्पष्ट इन पंक्तियों से किया जा सकता है—

“अच्छी कुंठारहित इकाई
सांचे ढले समाज से”²

इन पंक्तियों में समाज का नहीं ‘सांचे ढले समाज’ का विरोध है और समर्थन भी व्यक्ति मात्र का नहीं ‘कुंठा रहित’ व्यक्ति का है। अज्ञेय के ही अनुसार—‘समता उसी समाज में होती है जो स्वतंत्र हो और अपने स्वातंत्र्य के उपभोग के लिए हीसामाजिकता का वरण करता है।’³

‘नदी के द्वीप’ कविता में कवि स्पष्ट कहता है—

“हम नदी के द्वीप हैं

हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह
जाय

वह हमें आकार देती है।”

व्यक्ति की गढ़न में अज्ञेय समाज की भूमिका को नकार नहीं रहे हैं। ‘दीप अकेला’ कविता में वह अस्तित्व के साथ ही समाज द्वारा स्वीकृत होने के आग्रही हैं—

“यह दीप अकेला स्नेह भरा

है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे
दो।”⁴

अहंमन्यता से युक्त व्यक्ति ही समाज की सार्थक इकाई हो सकता है। अस्तित्वहीन भीड़ से अबतक किस समाज का भला हुआ है?

अपनी जीवन दृष्टि के संदर्भ में अज्ञेय ने लिखा है कि—“जो मताग्रही नहीं होगा वह स्वयं देख लेगा कि कवि के सामाजिक सरोकार क्या हैं और उसकी सहानुभूतियों का अभिनिवेश किसमें होता रहा है।”⁵ दरअसल समस्या अज्ञेय के दृष्टिकोण में नहीं उस संकुचित चिन्तन में है जो व्यक्ति और समाज को पूरक नहीं, विलोम के रूप में देखने का अभ्यासी है। अज्ञेय का परिवेश और ज्ञान की सीमा अपरिमित है। नामवर सिंह लिखते

भी हैं—“देश—काल की दृष्टि से अज्ञेय की कविता की दुनिया अन्य हिन्दी कवियों से कहीं अधिक व्यापक है। एक नजर में देखें तो वह आधी दुनिया के साथ साथ लगभग आधी शताब्दी तक फैली है। कविता की इस दुनिया में संपूर्ण भारत तो है ही, एशिया और यूरोप के अनेक देशों के साथ उत्तरी अमेरिका भी मौजूद है।”⁶

यदि किसी कवि की कविता की दुनिया विश्व व्यापक है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि वह अपनी जड़ों से कटा है और अपने देश के आम नागरिकों को नहीं पहचानता। जैसा कि डा० विशम्भर नाथ उपाध्याय ने अज्ञेय के लिए लिखा है—“उनमें इस देश के आम आदमी के प्रति लगाव नहीं है। वह अभिजात मुद्राओं में मगन रहने वाले और अपनी विशिष्टताओं का मन ही मन मजा लेने वाले व्यक्ति हैं। मानव संवेदना की गहराई के अभाव और सताये हुए लोगों के साथ तादात्म्य न कर सकने के कारण अज्ञेय के सृजन का हास होता गया....।”⁷

अभिजात मुद्राओं में मगन अज्ञेय अपने देश को कभी भूलते हों ऐसा उनकी कविताओं में नहीं दिखता है—

“इन्हीं तृण— फूस— छप्पर से

ढकेदुलमुल गंवारू

झोंपड़ों में ही हमारा देश बसता है।”⁸

देश के मर्म से अनजान शहरों की ढंकी हुई विषैली लोलुप वासना का सांप देश को डस रहा है। अपने देश की लहराती अल्हड़ अयानी संस्कृति की दुर्दशा पर कवि को सभ्यता का भूत हंसता दिखता है। अपनी कविता ‘जनवरी छब्बीस’ में कवि इन्हीं तृण— फूस— छप्पर में रहवासी भूमिसुतों को नये जनराज्य की प्रजा, स्रष्टा और सच्चा राष्ट्र विधायक घोषित करता है। देश का आम आदमी प्रजातंत्र के मकड़जाल में ऐसा फंसा कि भाग्यविधाता तो न बन सका, एक आसान

शिकार बनकर रह गया। आजादी के बाद भी इन भूमिपुत्रों की दुर्दशा पर 'हवाएं चेत की' कविता में कवि की लेखनी चलती है—

“बह चुकीं बहकी हवाएं चेत की

कट गयी पूलें हमारे खेत की

कोठरी में लौ बढ़ाकर दीप की

गिन रहा होगा महाजन सेंट की।”⁹

इन पंक्तियों को लिखने वाले कवि के सामाजिक सरोकार क्या है? प्रश्न व्यर्थ प्रतीत होने लगता है। नागरीय परिवेश में पनपी लोलुप विषैली वासनाओं पर कवि का तीखा व्यंग्य बहुत उद्धरित 'सांप' कविता में दिखता ही है। 'हरी घास पर क्षण भर' कविता में भी वह नगरीय सभ्यता के 'सभ्य शिष्ट जीवन की' दरारों से उकता कर उन्मुक्त प्रकृति की ओर जाना चाहते हैं—

“नहीं सुने हम नगरी के नागरिकों से

जिनकी भाषा में

अतिशय चिकनाई है साबुन की”

‘मैं वहाँ हूँ’ कविता में कवि आम आदमी के साथ खड़ा दिखाई देता है—

“यह जो मिट्टी गोड़ता है, कोदई खाता है और गेहूँ
खिलाता है

उस की मैं साधना हूँ।

यह जो मिट्टी फोड़ता है, मड़िया में रहता है और
महलों को बनाता है

उस की मैं आस्था हूँ।”¹⁰

इस कविता में कवि की दृष्टि कालिख पुते खानों में काम करने वाले, नंगे बदन दम साधे पानी में उतरने वाले, कलम घिसते नौकरी करने वाले, कचरा उठाने वाले, गदहों को हांकने वाले, तन्दूर झोंकने वाले, मनियार, धोबी, कबाड़ी, पापड़ बेलने वाले, बासन मांजने वाले, रिक्शा खींचने वाले एक— एक जन पर गई है। वह जो इस श्रम की चक्की

में पिसता है पर हारता नहीं, न मरता है, इस परिश्रमी पीड़ित जन को कवि अपनी वाणी देता है। सबकी व्यथा से जुड़कर कवि स्वयं को उस सेतु के रूप में देखता है जो 'मानव से मानव का हाथ मिलाने से बनता है,' श्रमिकों की यथास्थिति कवि को स्वीकार नहीं वह उसे बदलना चाहता है।

‘देना जीवन’ कविता में कवि की याचना है—

“किन्तु साथ ही/देना साहस

हो अन्याय किसी के भी प्रति पर मुझ से चुप रहा
न जाय,

आस्था जिसके सुख का प्लावन ज्वार व्यथा का
बहा न पाय।”¹¹

इस सबके साथ ही कवि मांगता है—सच का आग्रह, निष्ठा का हठ और अग— जग के विरोध के धक्के से न ढह जाने की सामर्थ्य। कवि स्वयं को ऐसे दीप के रूप में संजोना चाहता जिसके स्नेह का अमलतर आलोक सबको प्राप्त हो।

कवि विदेशी यात्राओं से उड़ान भर कर जब देश जमीन पर उतरता है— सामने अपना ही अनपेक्षित प्रतिरूप खड़ा पाता है। वह 'नर, जिसकी अनज्ञिप आंखों में नारायण की व्यथा भरी है!'

‘हम कृति नहीं हैं’ कविता में कवि स्वीकारता है कि कृति नहीं हैं, कृतिकारों के अनुयायी भी नहीं हैं। इस तरह मानव होने की पीड़ा का एक नया स्वर कवि अपने काव्य में खोजता है। अज्ञेय 'दुख' को व्यक्ति के परिमार्जन से जोड़कर देखते हैं—

‘दुःख सबको माजता है’

“दुःख के इस शोधक और मुक्तिदायक रूप को अज्ञेय 'शेखर काल से ही मानते आ रहे हैं। लेकिन उस समय अज्ञेय का विचार था कि दुःख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है।”¹²

वह देख पाते हैं— मानवीय संबंधों में भी बाजार अपनी जगह बना चुका है, कुछ भी मूल्य मुक्त नहीं है। 'कांच के पीछे मछलियां' कविता की अंतिम पंक्तियां इस संदर्भ में प्रासंगिक हैं—

“जिन्दगी के रेस्तरां में यही आपसदारी है

रिश्ता—नाता है—

कि कौन किस को खाता है!”¹³

'मैंने पूछा क्या कर रही हो' कविता में गृहस्थी के परिदृश्य में स्त्री मन की पीड़ा भी देखने योग्य है—

“मैं जो परोसूंगी

जिनके आगे परोसूंगी

उन्हें क्या पता है

कि मैंने अपने साथ क्या किया है?”

नामवर सिंह लिखते हैं—“वस्तुतः अज्ञेय की सच्ची तस्वीर उनकी 'नाच' शीर्षक कविता के उस नट की है जो दो खंभों में बंधी हुई तनी हुई रस्सी पर नाचता है। दरअसल वह नाचता नहीं है, खंभे से खंभे तक दौड़ता है रस्सी खोलने के लिए तनाव चुके और ढील में छुट्टी हो जाए, पर तनाव ढीलता नहीं।”¹⁴ तनाव का ढीला न होना ही वह स्रोत है जिसके कारण न कवि की कविता का उद्गम रिक्त होता और न मानव का संघर्ष।

'आजादी के बीस बरस' कविता में देश की उपलब्धियों पर तंज कसते अज्ञेय कहते हैं—

“उन्नीस नंगे शब्द

अठारह लचर आंदोलन

सत्रह फटीचर कवि?”¹⁵

बाकी चोरी, चकारी, सेंधमारी, जुआखोरी को वह आजादी से पहले की पारम्परिक कलाएं कहते हैं। आजादी के दो दशक बाद भी देश को कुछ हासिल नहीं हुआ पर क्यों? इस प्रश्न का जबाव भी 'अहं राष्ट्री संगमनी जनानाम्' कविता में

हाजिर है, सांचे ढले समाज के बाह्यन, जाट, कायस्थ, बनिए, अहीर, मौलाना, मसीही, सरदार जी की भीड़ में समन्वित समाज कहीं गुम हो गया है और इस पंचमेल खिचड़ी वाली भीड़ में देश कहीं गुम हो गया है और जो शेष बचा है वह—

“देस रे देस

तेरे सिर पर कोल्हू

इसका भार तू कैसे ढोएगा

जिसे पेरेंगे जाट, बाम्हन, बनिया, तेली, खत्री, मौलवी, कायथ, मसीही, जाटव, सरदार, भूमिहार अहीर।”¹⁶

सत्तर के दशक में दिल्ली में लिखी गई इस कविता के देश की तकदीर आज भी वही की वही है। आजादी के बाद कवि देश के पुनर्निर्माण और पुनर्विकास के सृजनात्मक स्वप्न भी देख सकता था किन्तु विश्वदृष्टि सम्पन्न कवि से कोरी परिकल्पनाओं की मांग नहीं की जा सकती। कवि जिस यथार्थ से दो चार होता है, वह उसकी काव्य अभिव्यक्ति में उपलब्ध है। 'केले का पेड़' कविता में कवि अज्ञेय समस्त भारत के निवासियों की मानसिकता का चित्र खींचते कहते हैं—

“ओ केले के पेड़, क्यों नहीं भगवान ने तुझे रीढ़ दी

कि कभी तो तू अपने भी काम आता—

xxxxxxx

तू एक बार तन कर खड़ा तो होता

मेरे लुजलुज भारतवासी!”

इस कविता के संदर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं—“एक ऐसा देश जिसका फल बराबर देशी— विदेशी राजाओं ने ही खाया है। यह निरा संयोग नहीं कि अप्रस्तुत केले का पेड़ भारतीय व्रत— त्योहार और उत्सव में मांगल्य का सूचक

रहता है, और इस माने में भारतवासी के लिए सच्चा प्रतीक है, उसकी उपयोगिता और निरीहता दोनों के संदर्भ में।¹⁷

मताग्रहों के परे जाकर अज्ञेय के काव्य सरोकारों को समझना वास्तव में कठिन विषय नहीं है। अज्ञेय स्वयं 'इन्द्रधनुष रौंदे हुए' काव्य संग्रह की भूमिका में लिखते हैं—'व्यक्तित्व रचनाकार के लिए निरी स्वरति नहीं है, वह विकसित मानव है जो जीवन को प्रतिष्ठा दे सकने के योग्य हो तथा जो अन्यायों और कुरितियों के खिलाफ आवाज उठा सके। वह सेतु है, जो मानव का मानव से हाथ मिलने से बनता है।'

व्यष्टि और समष्टि के दो फाड़ विभाजन का शिकार बने अज्ञेय के संदर्भ में अर्चना वर्मा लिखती हैं—

“अज्ञेय का पुनः आविष्कार इसलिए भी अक्षम्य है कि जिन्होंने अज्ञेय विरोध की रोटियां सेंकी थीं वे अब अज्ञेय समर्थन का हलवा भी खा रहे हैं।”¹⁸

फिलहाल कहानी जो भी हो अज्ञेय की कविता में अस्तित्व बोध और सामाजिक चेतना एक-दूसरे के विरोधी नहीं अपितु पूरक हैं, अभिन्न हैं और अज्ञेय के शब्द उधार लेकर कहूं तो जो समाज अपने इस विरल स्रष्टा का सम्मान नहीं कर पाया कदापि स्तरीय समाज नहीं था। एक सर्जक के प्रति उदासीनता समाज की उन्नति के मार्ग में रोड़े अटकाने जैसा है।

संदर्भ सूची

1. अज्ञेय, केन्द्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस 1984, पृष्ठ 98
2. अज्ञेय, 'अरी ओ करुणा प्रभामय,' भारतीय ज्ञानपीठ 2006, पृष्ठ 16

3. तिवारी विश्वनाथ,समकालीन हिंदी कविता, लोकभारती प्रकाशन, 2010, पृष्ठ 9
4. अज्ञेय संकलित कविताएँ, नामवर सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट 2011, पृष्ठ 26
5. वही, भूमिका, पृष्ठ 12
6. वही, भूमिका, पृष्ठ 11
7. अज्ञेय: सृष्टि और दृष्टि, संपादक स्नेहलता शुक्ला, रचना प्रकाशन
8. जयपुर,2011, पृष्ठ 39
9. अज्ञेय संकलित कविताएँ, नामवर सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट 2011, पृष्ठ 24
10. वही, पृष्ठ 32
11. वही, पृष्ठ 39
12. वही,42 / 43
13. सिंह नामवर, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, 2011, पृष्ठ 1
14. अज्ञेय, संकलित कविताएँ चयन नामवर सिंह, एनबीटी 2011, पृष्ठ 90
15. वही, भूमिका, पृष्ठ 12
16. वही, चयन, पृष्ठ 91
17. वही, पृष्ठ 92
18. चतुर्वेदी रामस्वरूप, हिन्दी काव्य का इतिहास, लोक भारती प्रकाशन, 2012 पृष्ठ 218
19. 18. वर्मा अर्चना, साहित्य का खंडित अस्तित्व और विभाजित अभिव्यक्ति आलेख, 'कथादेश' जनवरी, 2012